नाटक समयसार

अलग से उपलब्ध प्रवचन

प्रवचन - १, उत्थानिका, पद - २७

....'तेह करीने जड़नो... वचनता, जड़ता, जड़ सम मेल, लघुता, गुरुता, गमनता यही अजीव के खेल।' यह अजीव-जड़ का खेल है, परन्तु इस जड़ की शक्ति को किसी ने माना नहीं। वह तो मानो कि शक्ति मुझसे आती है। यह भ्रान्ति है, भ्रम है, पाखण्ड है, तरंग है। जड़ और आत्मा—दोनों भिन्न तत्त्व है। जड़, वह अजीव है, आत्मा जीव है। दो से भिन्न मानना न आवे, उसे आत्मा में दया, दान, भक्ति, व्रत का विकल्प उठे, वह पुण्यतत्त्व है, वह आत्मतत्त्व नहीं। शरीर तो अजीवतत्त्व है। दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा, यात्रा का विकल्प उठता है, वह पुण्यतत्त्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग-वासना वह पापतत्त्व (कि) जो अशुभभाव है। ये दोनों तत्त्व होकर आस्रवतत्त्व है। पुण्य और पाप के राग—वह तो आस्रव अर्थात् विकार है, वह चैतन्य के मूल स्वभाव में नहीं है। वह आस्रव (अर्थात्) पुण्य-पाप में आत्मा का ज्ञान अटक जाना, इसका नाम भगवान बन्धतत्त्व कहते हैं। वह बन्धतत्त्व (और) पुण्य-पाप के आस्रवरहित, मैं ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध चिदानन्द हूँ, उसका भान करके, जितनी पुण्य-पाप आस्रव-बन्धरहित निर्मल-निर्विकारी स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और निर्मलता के अंश प्रगट होते हैं, उसे संवरतत्त्व कहते हैं। जयचन्दभाई! नौ तत्त्व के नाम आते हैं? नौ तत्त्व के। ...नौ कहते हैं। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—यह नौ पदार्थ हैं। वस्तु दो है—जड़ और चैतन्य, उसकी दूसरी सात दशायें—अवस्थायें हैं। चन्दुभाई! सात अवस्थायें हैं।

चैतन्यतत्त्व में जो पुण्य-पाप की अटकी हुई वृत्ति आस्रव और बन्ध, इसके अतिरिक्त मैं ज्ञाता शुद्ध चिदानन्द हूँ, ऐसी श्रद्धा-ज्ञान की निर्मलता होती है, उसे संवर कहते हैं। संवर कोई बाहर से दो घड़ी बैठे और आस्रव .... मन्दिर गये और संवर हो जाये, (ऐसा नहीं है)। आत्मा के बाहर न जाये, उसे संवर होता है। आत्मा तो

जाननेवाला-देखनेवाला है, उसमें आत्मा स्थिर हो और पुण्य-पाप की वृत्तियों की उत्पत्ति न हो, ऐसी अन्तर की दशा को संवर कहते हैं। और निर्जरा—यह चैतन्य की शुद्धता में टिकने से अशुद्धता—मलिनभाव टले, उसे निर्जरातत्त्व कहते हैं। यह एक अपवास करे, निर्जरा हो गयी, (ऐसा) मान लेता है। अरे! ऐसे तो अपवास तेरा अज्ञानरूपी पाड़ा (भैंसा).... करके कुछ खा गया है। ऐसे अनन्त अपवास अज्ञान भैंसा खा गया है, परन्तु तेरा (कुछ) हुआ नहीं। जड़ से भिन्न चैतन्यस्वभाव जानना न आवे, उसे पुण्य-पाप और आस्रव-बन्ध की वर्तमान कृत्रिम अवस्था से भिन्न है, यह श्रद्धा करने की सामर्थ्य उसमें होती नहीं। इसलिए आत्मा जड़ से तो ज्ञात हो, ऐसा नहीं, जड़ की उपमा, वह उसे नहीं दी जाती, परन्तु पुण्य और पाप की उपमा भी चैतन्य को नहीं दी जाती।

जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह शुभभाव है। शुभभाव होता है न? शुभभाव जिससे तीर्थंकरगोत्र बँधता है... और शुभ भी विकार, अधर्म है, राग है। राग की उपमा भी चैतन्य को नहीं दी जा सकती। क्योंकि जिस भाव से बन्धन होता है, वह भाव आत्मा का स्वभाव नहीं है। हो, विकार हो, विकार हो, परन्तु विकार आत्मा का स्वभाव नहीं। तो जिस भाव से तीर्थंकर(गोत्र) का बन्ध होता है, (वह) राग है। वह तीर्थंकर जैसा आत्मा है... वह राग और राग का फल तो तीर्थंकरपद होता है, समवसरण (आदि), उसकी उपमा भी आत्मा को नहीं (दे सकते)। आत्मा तो रागरहित, शरीररहित है। राग के फलरूप जो समवसरण, धर्मसभा, इन्द्र आकर सेवा करे इत्यादि—यह उपमा चैतन्य को नहीं है। चैतन्य तो ज्ञानानन्द, विकार और विकार के फल की उपमा रहित है। देखो! ऐसा आत्मा पहले सम्यग्ज्ञान में जानना, मानना चाहिए। उसे माने बिना सच्चे व्रत, नियम हो नहीं सकते। इसके बिना चारित्र और स्वरूप की रमणता नहीं होती। बाह्य के थोथा वस्त्र बदले और बाहर के वेश पलटे, इससे अन्तर का आत्मा पलट नहीं जाता।

चिरायते की थैली में कड़वी लकड़ियाँ भरी हों और ऊपर शक्कर लिखे, उससे कहीं चिरायता कुछ मीठा होगा? (नहीं होगा)। इसी प्रकार चैतन्य की थैली यह बाह्य शरीर है, इस शरीर के वेश पलटा करे, परन्तु विकाररहित, शरीररहित स्वभाव चिदानन्द

चैतन्यतत्त्व तू है, उसके भान की मिठास, श्रद्धा के भान बिना शरीर पर नाम लिखे कि त्यागी है, साधु है, फकीर है, बाबा है, मुनि है, तो चिरायते की थैली (पर) शक्कर लिखे ऐसा है। तो (चिरायते की) लकड़ियों में मिठास कभी नहीं होगी। यह करियाता समझते हैं?

मुमुक्षु : चिरायता।

पूज्य गुरुदेवश्री : चिरायता। वह कड़वा होता है न? कड़वे (चिरायते) की थैली हो, उस पर बाहर में शक्कर लिखे तो कहीं कड़वाहट छूट जाती है? कड़वाहट तो कायम रहती है। उसी प्रकार आत्मा में कड़वाहट तो, मैं पर का कर सकता हूँ, पर से मुझे मदद होती है और पुण्य-पाप का विकल्प राग है, वह आत्मा का स्वभाव है—ऐसी मान्यता मिथ्यात्व की कड़वाहट है, भ्रान्ति की कड़वाहट है। उस भ्रान्ति की कड़वाहट का नाश किये बिना, बाहर में नाम लिखे शरीर का कि त्यागी है और व्रतधारी है और ब्रह्मचारी है, वह चिरायते की थैली पर शक्कर का नाम लिखने जैसा है (क्योंकि) वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान उसे हुआ नहीं है। इसलिए भगवान कहते हैं कि आत्मा उपमारहित है। क्या कहते हैं? किसकी उपमा दे? (जहाँ) घी जैसे पदार्थ को उपमा नहीं दी जाती, तो चैतन्य के स्वभाव का ख्याल तू कर, तुझे-तू सत्समागम द्वारा तेरी पात्रता द्वारा पहिचान—ऐसा स्व से ज्ञात हो, ऐसा आत्मा है। पर से तो उपमा दी जाये, ऐसा आत्मा नहीं है।

'अव्यक्तव्य है'। देखो! यह सब आत्मा के विशेषण वर्णन किये जाते हैं। वाणी द्वारा कहा जा सके, ऐसा आत्मा नहीं है। 'जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में..' देखो! श्रीमद् कहते हैं अपूर्व अवसर में। 'कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जब, उस स्वरूप को अन्य वाणी वह क्या कहे? अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जब। अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा?' जो सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान के भान में पूर्ण स्थिरता होने पर अनन्त केवलज्ञानदशा प्रगट हुई, जिसमें स्वसंवेद्य (आत्मा) जानने पर प्रत्यक्ष तीन काल, तीन लोक पर को जाना, वह भी वाणी द्वारा कहने में पूर्ण रीति से समर्थ नहीं है।

जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में..
कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जब,
उस स्वरूप को अन्य वाणी वह क्या कहे ?

साधारण की-अज्ञानी की कल्पित वाणी से, आत्मा ऐसा और आत्मा वैसा कहना चाहे, वह सर्वज्ञ पूर्ण रीति से नहीं कह सकते तो अज्ञानी तो कह ही नहीं सकता। 'अनुभवगोचर मात्र...' वह तो चिदानन्द ज्ञाता शान्तिस्वभाव पर के कार्यरहित, पर के साधनरहित, पर के कर्मरहित, पर के कर्तारहित मेरा... मेरा साधन है। वह ही मेरा साधन करके मेरे साध्य को—पूर्ण परमात्मशक्ति की दशा को—प्रगट करने की कला मुझमें है। यह पुण्य और पाप में मेरा साधन नहीं। ऐसी मान्यता द्वारा स्वभाव में एकाग्र हो, उसका वाणी द्वारा क्या कथन करना ? अव्यक्तव्य है (अर्थात्) वाणी में वह आ नहीं सकता। वाणी जड़ है।

चन्द्रमा को बतलाना हो तो बतलाया जाता है कि देखो! यह चन्द्र। उस किसान के झोपड़ा के ऊपर नीम की डाली के ऊपर है। यह दूज उगती है न दूज। चन्द्र की दूज उगती है न ? चन्द्रमा... उस चन्द्रमा की दूज उगती है न। वह दूज तो आकाश में है। कोई बालक को बतावे कि देखो! चन्द्रमा। अमुक व्यक्ति की मंजिल पर नीम की डाल के ऊपर है। परन्तु वास्तव में डाली के ऊपर भी नहीं, मकान के ऊपर भी नहीं, चन्द्र तो आकाश में है। इसी प्रकार आत्मा को समझाने के लिये कितने ही सिद्धान्त, न्याय बतलाये जाते हैं, परन्तु उनके द्वारा यदि आत्मा पकड़ ले अन्दर तो समझ में आये, वरना तो वाणी द्वारा तो किसी प्रकार पूर्ण रीति से नहीं कहा जा सकता। अव्यक्तव्य है, ऐसा आत्मा अपने स्वभाव से जाना जा सकता है, परन्तु वाणी द्वारा कहा नहीं जा सकता।

'अप्रमेय है', लो। अप्रमेय है। ऐसा पाठ है, हों! ...'**अनिर्देशं अप्रेमयं...**' कैसा है आत्मा ? यह राग और पुण्य और मन द्वारा उसका माप नहीं हो सके, ऐसा है। '**अप्रमेय...**' प्रमेय अर्थात् माप में आवे ऐसा। वह ज्ञान से माप में आवे, ऐसा है। परन्तु विभाव, विकार और पर से उसका माप किया जा सके, ऐसा नहीं है। अप्रमेय... अप्रमेय है। अप्रमेय समझते हैं ? अप्रमेय अर्थात् ज्ञेय... ज्ञेयरूप से न ज्ञात हो, ऐसा है। अर्थात् पर

के ज्ञेयरूप से तो स्व नहीं ज्ञात होता, परन्तु अपने ज्ञान से स्वयं ज्ञेय हो सकता है। अर्थात् ज्ञाता जाननेवाला, मेरा ज्ञेय भी ज्ञान और मेरा ज्ञाता मैं और मेरे ज्ञान की जानने की क्रिया भी मुझमें है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—यह तीनों आत्मा में है। उसे दूसरा राग और निमित्त होकर ज्ञेय कर सके, अर्थात् आत्मा को जान सके, ऐसा आत्मा नहीं है। 'अप्रमेय है'। पर से न ज्ञात हो, ऐसा अथवा पर से माप में न आवे, ऐसा है।

देखो, यह गज होता है गज। गज से पूरे पर्वत के पर्वत मापे जाते हैं। वस्त्र... गज होता है न? वस्त्र... वस्त्र का गज होता है न? गज क्या? कपड़े का माप करते हैं, तो मनुष्य क्या करता है? कि गज बड़ा या कपड़ा? लोग कहे कि कपड़ा बड़ा कहलाता है। कपड़ा बड़ा है। कपड़ा बड़ा नहीं, गज बड़ा है। गज से मापते जाये तो कपड़ा समाप्त हो जायेगा, गज का माप समाप्त नहीं होगा। जयचन्दभाई! ऐसे के ऐसे गज को मापते जाये, मापते रहो तो कपड़ा समाप्त होगा, परन्तु कहीं गज का माप अब समाप्त नहीं होगा कि अब वह माप नहीं देगा। अब वह माप नहीं दे, ऐसा है? वह तो माप दिया ही करता है, इतना माप तो... गज समझते हैं? ज्ञानगज ऐसा है कि जगत की सभी चीज़ों का माप करनेवाला है। उसका माप करनेवाली कोई परचीज़ नहीं है। समझ में आया?

देखो! ऐसा आत्मा। यह ज्ञान द्वारा सब चीज़ों को जाननेवाला है, परन्तु दूसरी जड़ चीज़ उसे मापे, ऐसी ताकत जड़ में नहीं है। समझ में आता है? यह आत्मा का माहात्म्य और ऐसा कौन है—यह जानने की इसने दरकार नहीं की। इसलिए या तो पर का करूँ, पर से हो और यह क्रिया की और यह छोड़ा, रखा—उसमें चैतन्य पर से भिन्न है और स्वभाव में पर का त्रिकाल अभाव है, ऐसा श्रद्धा-ज्ञान बिना कभी वास्तविक त्याग नहीं हो सकता। 'अप्रमेय है। आकुलतारहित है।' कैसा है आत्मा? (अर्थात् कि) उसका स्वभाव। उसमें आकुलता है नहीं। आकुलता पुण्य-पाप-काम-क्रोध की होती है, वह तो क्षणिक दशा में है। मूल स्वभाव में आकुलता नहीं है। यदि आकुलता स्वभाव में हो तो निकल नहीं सकती, टल नहीं सकती और आकुलता टल सकती है तो उसके स्वभाव में आकुलता नहीं है।

लोग नहीं कहते? जलन हुई... अभी। पेट में... या कलेजे में तेल डाला है, चैन

नहीं है। यह अपमान होता है तब होता है न? राज का मान हो, सेठाई का मान हो, कुटुम्ब का मान हो.... यह स्त्रियाँ भी कुछ अपमान हो, तब जल जाती है न? कैरोसीन छिड़के, गले में फाँसी खाये, कुँए में गिरे, अफीम खाये, अपमान हो तब। तब उसके कलेजे में क्या होता होगा? आकुल-व्याकुलता। आहाहा... इस अपमान से तो मर जाना अच्छा। मर जाना वह... देखो! जिसे रोम खिंचने पर दु:ख लगता हो, वह अपमान के समय शरीर को भिन्न करके मरकर भी सुखी होना चाहता है। परन्तु सुख के रास्ते की उसे खबर नहीं। है? .... होता है न? ऐसा अपमान होता है तो गले में फाँसी खाते हैं और अग्नि में जल जाते हैं, अफीम खाते हैं और मर जाते हैं। क्या है? शरीर की एक अंगुली टूटे तो जिसे दु:ख लगता था, वह अपमान के समय शरीर को छोड़कर सुखी होना चाहता है। ऐसा आता होगा सुख में? उसे भान नहीं कि यह उपाय नहीं है। भाई! यह उपाय तो अन्तर में चैतन्यस्वभाव में है, बाहर में है नहीं।

इसलिए आचार्य कहते हैं कि वह आकुलता जो हुई,... अब जीकर क्या करना? ऐसा दो लाख का आसामी हो और यह कुछ बड़ा व्यापार किया और पन्द्रह लाख गये। होता है न? इसमें सेठिया होंगे कितने ही। जयचन्दभाई! खबर है न? मरकर कहाँ जाओगे? मौसीबा बैठी है वहाँ? आओ माँ। आओ भाई पोढो। है वहाँ? कोई माँ-पुत्री-बहिन बैठी है वहाँ? परन्तु कहाँ जायेगा? एक दुकान छोड़कर दूसरी दुकान में जायेगा तो लेनदार छोड़ेंगे नहीं। परन्तु भान नहीं (कि) मैं आत्मा हूँ। अपमान किसका और मान किसका? वह तो जगत की चीज़ है। मेरे स्वभाव से विरुद्ध जो आकुलता होती है, वह आकुलता कृत्रिम है, मूल स्वरूप में नहीं है। है? वह सब तो है नहीं। उलझ जाये न? व्यक्ति उलझ जाये। क्या करे? उलझ जाओ माँ। बड़ा सिर दु:खता है, बड़ी उलझन हो जाती है। तो उलझन अर्थात् क्या? राग-द्वेष, काम, क्रोध, पुण्य-पाप की लगनी-वृत्तियाँ उठें, वह उलझन है। वह उलझन विकार है। वह विकार क्षणिक है। मूल स्वभाव में विकार... मूल स्वभाव में विकार, आकुलता है नहीं। उसे आकुलता नहीं। श्रद्धा तो करे, पहिचान तो करे। ...चन्दभाई!

यह पैसेवाले को आकुलता कहते हैं। पैसा पैदा करने में आकुलता, पैसा रक्षण

करने में आकुलता, पैसा खर्च करने में आकुलता। पैदा करने में ममता, रक्षण में ममता और खर्च करने में पाप है, और कुछ पुण्य का भाव हो राग का तो दोनों आकुलता है। अर्थात् परवस्तु के प्रति की लगनी में आकुलता, वह वृत्तियों का उत्थान है, वह स्वभाव में नहीं है। ऐसी श्रद्धा.... आकुलता बिना का आत्मा है, ऐसी प्रतीति और ज्ञान करे तो सच्ची श्रद्धा कहलाये। नहीं तो सच्ची श्रद्धा कहलाये नहीं। मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। मिथ्यादृष्टि हो उल्टी मान्यता, वह जितनी की जाये, वह सब मिथ्यात्वसहित अज्ञान का उसमें फल आता है। कहीं संसार के जन्म-मरण का अन्त उसमें आता नहीं। 'आकुलतारहित है।' जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह पुण्य है। पुण्य क्या है? आकुलता है। आकुलता है। जिस भाव से पुण्य का बन्धन होता है, वह राग आकुलता है। वह राग आत्मा का स्वभाव है ही नहीं। ऐसा आकुलतारहित आत्मा के स्वभाव की प्रतीति नहीं करते, वे मिथ्यादृष्टि हैं। समझ में आया?

यह व्रत-अव्रत का विकल्प उठता है। अव्रत पाप का भाव है और व्रत का विकल्प उठता है, वह तो पुण्य का भाव है। दोनों आकुलता है। वह भाव निचलीदशा में होता है, परन्तु वह दोनों आकुलता है और (मैं तो) अनाकुलस्वभावी त्रिकाली नित्य हूँ, शुद्ध हूँ, पवित्र हूँ—ऐसी प्रतीति और पहिचान न करे तो उसे आत्मा की पहिचान नहीं है। आत्मा की पहिचान बिना 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिन्हयो नहीं...' यह कहते हैं इस प्रकार से, हों! 'त्यां लगी साधना सर्व झूठी।' यह त्याग करे और व्रत पाले और अपवास करे। राग करे तो पुण्य हो, पुण्यभाव हो। पुण्य से, इस जगत ने मानी है, वैसी अनुकूलता की प्राप्ति हो और उसमें अहंकार करके वापस चार गति में चौरासी के अवतार में भटके। परन्तु ऐसा आत्मा जब जाने बिना या आकुलता बिना का चिदानन्द अनाकुल स्वादस्वरूप हूँ, ऐसा भान न करे तो उसे सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन होता नहीं और सम्यग्ज्ञान बिना उसके व्रत, तप सच्चे हो नहीं सकते।

'शून्य भी है।' लो, आत्मा शून्य है। किस प्रकार प्राप्त करना व्यक्ति को? परवस्तु इसमें नहीं, इसलिए पर से वह शून्य है। समझ में आया? एक अँगुली में (दूसरी) अँगुली की शून्यता है। उसमें इसकी शून्यता है, इसमें उसकी शून्यता है। उसमें उसकी (अपनी)

पूर्णता है। इसी प्रकार आत्मा में जड़, कर्म, शरीर, वाणी, मन—सबका उसमें अभाव है तो अभाव (अर्थात्) पर की उसमें शून्यता है। छगनभाई! बराबर है?

एक चीज़ में दूसरी चीज़ का अभाव है। एक आत्मा है, उसके चार बोल हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। एक-एक आत्मा, हों! शरीर से भिन्न है। द्रव्य अर्थात् वस्तु; क्षेत्र अर्थात् उसकी चौड़ाई; शरीर प्रमाण भिन्न, आत्मा की चौड़ाई है। काल अर्थात् वर्तमान अवस्था; भाव अर्थात् कायम की उसकी शक्ति। समझ में आता है न? स्वचतुष्टय। स्वचतुष्टय, वह शास्त्रभाषा है। द्रव्य अर्थात् वस्तु। लकड़ी है न वह सूखड़ की लकड़ी? पदार्थ है, वह द्रव्य है। द्रव्य अर्थात् पदार्थ। उसका क्षेत्र—इतना चौड़ा, वह क्षेत्र। उसका काल—वर्तमान अवस्था। उसका भाव—कायम की उसकी शक्ति। कायम रही हुई शक्ति, वह उसका भाव है। वह द्रव्यपदार्थ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है (अर्थात्) शून्य है। आत्मा कर्म, शरीर से शून्य है।... बन्ध नहीं। क्या कहा? वह स्व-पने है और पर-पने से शून्य है। कर्म और शरीर (आदि पर) पदार्थ आत्मा में है नहीं। जयचन्दभाई! समझ में आता है इसमें कुछ?

यह एक चीज़ है, वह स्वयं यह लकड़ी है, यह अँगुली से शून्य है, इस पुस्तक से शून्य है। क्योंकि वह वस्तु उसमें नहीं। इसलिए परवस्तु से शून्य है और अपने से परिपूर्ण है। इसी प्रकार यह आत्मा शरीर, कर्म, परस्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी (आदि) पूरा जगता। अनन्त आत्मायें और अनन्त रजकण—इनसे खाली है, क्योंकि उसमें यह नहीं। इसलिए यह आत्मा पर से शून्य है परन्तु पर से शून्य (आत्मा) इसे जँचता नहीं। पर ने घेरा डाला है, ऐसा मानता है। परवस्तु है वह तो... परन्तु पर ने घेरा डाला है। स्त्री-पुत्र और जहाँ पाँच लड़के हों और पाँच बहुएँ हों, वेवलां हों। वेवलां अर्थात् समझे न? यह तुम्हारे समधी। यह मानो चारों ओर घेरा डाला है। यह भगवान आत्मा कौन है?—यह जाने तो सही। आत्मा जो है, वह अपने जानने-देखने के स्वभाव से परिपूर्ण है।

दृष्टान्त... एक सोना है सोना। सोना... यह सोना दूसरी चीज़ से खाली है (अर्थात्) शून्य है। ताँबा, लोहा, वस्त्र से शून्य है। इस सोना में एकवान ताँबा या कथीर हो, उससे भी सोना तो शून्य है। नहीं तो यह सोलहवान नहीं हो सकेगा। एकवान

निकाल डाले तो सोलहवान ही है। सोलहवान वह परिपूर्ण है और (एक) वान ताँबा और परचीज़ लोहा या दूसरी चीज़ें—उनसे शून्य है। तो उस परचीज़ से शून्य है, विकार अर्थात् ताँबा से शून्य है और सोना पीलापन, चिकनापन, वजन से परिपूर्ण है। सोने में वान (एक) ताँबा होने पर भी सोना तो सोलहवान ही है। सोलहवान न हो तो सोलहवान होगा कहाँ से? मात्र ताँबे के एक वान का आरोप करके उसे पन्द्रहवान कहलाता है। सोना तो सोलहवान है। नहीं तो वान निकल गया एक वान... वान समझते हैं? खोट... हाँ वह। उसको यहा एक वान आदि कहते हैं। वह ताँबा, कथीर का भाग, खोटा अंश, उस पर यदि ख्याल न दो, तो सोना तो सोलहवान ही है। उसमें ताँबा और परचीज़ नहीं है, उसके कारण से पर से शून्य है और स्व से परिपूर्ण है।

इसी प्रकार आत्मा शरीर, कर्म (आदि) परपदार्थ से शून्य है और आत्मा में जो काम, क्रोध, पुण्य-पाप की कृत्रिम क्षणिक वृत्ति होती है, उस विकार से भी त्रिकाली स्वभाव तो शून्य है। पर से शून्य है, विकार से शून्य है और पूर्ण भी है। अपने आत्मस्वभाव से पूर्ण है। यह क्या है? जो शून्य है, वह पूर्ण है और पूर्ण है, वह शून्य है। देखो, यह चीज़! इसका नाम अनेकान्तस्वरूप का तत्त्व है। यह सब अनेकान्त की गाथायें जरा सूक्ष्म है। तुम्हारी शैली से साधारण कही जाती है। शून्य भी है, पूर्ण भी है। वह की वह चीज़ पर के आधार से शून्य है, और क्षणिक विकार के स्वभाव से भी शून्य है और ज्ञाता-दृष्टा की शक्ति से, आनन्द से भरपूर है, इसलिए पूर्ण है। ऐसे आत्मा को पर से शून्य, स्व से पूर्ण, विकार से शून्य, स्वभाव से पूर्ण पहिचानना, मानना, जानना, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। उस सम्यग्ज्ञान के पश्चात् स्वरूप में रमणता हो—लीनता हो, उसे चारित्र कहते हैं। चारित्र कोई वस्त्र-बस्त्र नहीं, वेश या क्रियाकाण्ड (नहीं)। छगनभाई! यह चारित्र की व्याख्या है।

यह ४२-४७, ९६ दोषरहित आहार लेना, यह करना.... वह तो सब पर की क्रिया है। भगवान! सुन तो सही। उसे भी तत्त्व कहाँ है और कहाँ मान लिया! यह चैतन्यस्वभाव पर के त्याग-ग्रहण से शून्य है और जानने-देखने की शक्ति से भरपूर है। परिपूर्ण पड़ा है। जैसे ऐकड़ा। यह ऐकड़ा, दोकड़ा, तिगड़ा, चौगड़ा, पाँचड़ा, छगड़ा,

सातडा, आठडा, नवडा, दस, ग्यारह, बारह (आदि) सब अंक से अभाव(रूप) है। सब अंक से अभावस्वभाव यह ऐकड़ा है और ऐकड़ा ऐकड़ा से पूर्ण है। यदि ऐकड़ा दूसरे अंक से हो तो ऐकड़ा पृथक् नहीं रह सकेगा। जयचन्दभाई! बराबर है? ऐकड़ा दो से शून्य, एकड़ा, तीन से, चार से, पाँच से, छह, सात, आठ (आदि सब) अंक से शून्य है। एकड़ा एकड़ा से परिपूर्ण है।

इसी प्रकार आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वभाव से एकरूप अंकरूप सत् है और दूसरे राग-द्वेष, शरीर, वाणी, मन (आदि) परपदार्थ उससे शून्य है। नहीं तो वे पदार्थ स्वयंसिद्ध तत्त्व नहीं रह सकते। ऐसी जब तक पहिचान और ज्ञान न करे, तब तक यह पर का किया और पर का छोड़ा और पर का रखा, यह पर से सहायता हो तो कुछ कल्याण हो। भाई! मदद चाहिए, बापू! अनादि का आत्मा पंगु है। दूसरे की मदद चाहिए—ऐसी मान्यता अज्ञानियों की है। उसे स्वयंसिद्ध आत्मा स्वभाव से—शक्ति से परिपूर्ण है, ऐसी प्रतीति नहीं और पर से खाली मानना, पर से अभाव मानना अर्थात् स्वयं एक तत्त्व को पूर्ण किस प्रकार कहोगे? श्रद्धा में, हों! पहली श्रद्धा में। पर से अभाव और विकार से अभाव, तो स्वभाव में पर की जहाँ अपेक्षा न रही, तो अपूर्णता तो, पर की अपेक्षा लक्ष्य में ले तो अपूर्णता और विकार ख्याल में आवे। परन्तु पर बिना का, विकार बिना का स्वभाव है, निमित्त और राग की अपेक्षा श्रद्धा में छूटे, तब पर से अभावस्वभाव से परिपूर्ण है, ऐसी सम्यग्ज्ञान की प्रतीति होना, वह आत्मा की प्रतीति है। वह आत्मा की प्रतीति नौ तत्त्व में जीव की प्रतीति कहलाती है। परन्तु ऐसी प्रतीति और श्रद्धा के अनुभव बिना सच्चा ज्ञान और सच्ची श्रद्धा नहीं होती। अभी दूसरी बहुत बात है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)